बापू

श्रीसियारामशरण गुप्त

प्रथमावृत्ति
सत्तरवीं गांधी जयन्ती
१९९५ वि०

मूल्य
॥।

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।

तुम तो प्राण दे चुके बापू !
स्वयं उन्हें साधारण जान ,
कृपया कभी न करना अब फिर
अपने दिये हुए का दान ।
उन्हें न्यास-सा रखना आगे ।
अब उन पर अधिकार उन्हींका ,
उनमें हैं जिनके भगवान ;
लिया सँभाल जिन्होंने उनको ,
किया शक्ति भर उनका मान
और भाग्य जिनके हैं जागे ।

—मैथिलीशरण

(आ० कृ० १२–'९२ के दिन
यरवडा मन्दिर को भेजा गया पत्र)

प्रिय सियारामशरणजी,

बापू के लिए आपकी बनाई हुई भक्ति-कुसुम-माला कल ही पढ़ सका। कल भी पढ़ सका, क्यों कि मैं बिछौने पर पड़ा हूँ। बीमारी का शिकार मैं शायद ही होता हूँ, परन्तु अभी कई सालों के बाद यह मौका आया है। अच्छा है, क्यों कि ऐसे मौके नहीं आते तो नम्रता कैसे सीखता ?

आपकी 'गगरी' के पानी पीकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आप ठीक कहते हैं कि बापू एक बड़ा विराट तीर्थ है। उस तीर्थ के विपुल सलिल से जिसकी जितनी शक्ति हो उतना ही ले सकता है। मेरे समान अनधिकारी को तो किसी पूर्वजन्म के पुण्य से उस तीर्थ के सलिल में अहर्निश अवगाहन करने की अमूल्य संधि प्राप्त हुई है। परन्तु तीर्थ में अवगाहन करने वाले सब यात्रियों के अथवा तीर पर सदा बसने वाले साधु-बाबा या पंडों के पापों को वह सलिल थोड़े स्पर्श करता है ? अगर मेरे ऐसे अपना पापमोचन न कर सके तो अपराध तीर्थ का नहीं है, हमारा ही है।

आप कवि रहे। आपकी स्थिति हमसे अधिक आसान है, क्यों कि आप तो अपनी गगरी भर कर औरों के पिलाने का काम करते हैं। आपकी गगरी चाहे छोटी क्यों न हो, सुन्दर, मधुर, मंजुल है। इसलिए आपने जो सलिल दिया है, वह भी पर्याप्त प्रमाण में रोचक हुआ है।

गगरी के कई विन्दु मुझे बहुत पसन्द आये, परन्तु प्रथम विन्दु और यरवडा मन्दिर वाले विन्दु तो अत्यधिक आकर्षक मालूम होते हैं और हिन्दी साहित्य में रहेंगे। मैं हिन्दी का पंडित तो क्या, अभ्यासी भी नहीं हूँ। मुझे आपके काव्य की भूमिका लिखने का कोई अधिकार नही है। मैं तो 'बापू' के असंख्य भक्तों में से एक हूँ और रामयश सुनकर जैसे हरेक रामभक्त उल्लसित होते हैं, वैसा मैं भी आपके काव्य पढ़ कर उल्लसित होता हूँ। परन्तु जैसा मैंने कहा है कि बीमारी के बिछौने में लेटे लेटे दो काव्यों से मैं हर्ष प्रफुल्ल हुआ। एक बहन ने आकर पढ़ने की मनाई की, कहने लगी—'डाक्टर ने आराम लेने को कहा है, और आप पढ़ते हैं।' मैंने कहा—'बापू का सुयशगान तो मरते हुए को भी जिन्दा कर सकता है।' और सचमुच आपके काव्यों ने मुझे बड़ी शान्ति दी। आपने ठीक कहा है—

भीति-भय छिन्न भिन्न !
साग्रह प्रवेश की चलाचल है,
द्वार वह दीखता खुला-सा अनर्गल है !
कारागृह ? कुछ क्यों न हो अतीत,
तुमने जगा दिया महा पुनीत
साधु-सा कुजन में।
आज मन मन मे
सबको सहजगम्य
देवगृह है वह सदा प्रणम्य।

जैसा अभय मन्त्र बापू ने दिया वैसा शायद ही किसी ने दिया होगा। कारागृह तो भय का एक प्रतीक मात्र है। बापू ने तो कह दिया, सबको—सत्य का कवच पहने हुए और अहिंसा की तलवार लिये कारागृह क्या नरकागार और उससे भी भयावने स्थान में चले जाओ। जिस जिसने उनका अभय मन्त्र सीखा, अपनाया, उस पर अमल किया उसने मुक्ति का दर्शन किया। जितनी दूर तक उसका अमल हम नहीं कर पाये हैं मुक्ति हमसे उतनी ही दूर है। परन्तु उस देवी के दर्शन तो बापू ने कराये ही। मुक्ति देवी के दर्शन कराये तभी तो वे अमर छात्र होकर अमर गुरु बने।

विस्मय है, तुम हे अमर छात्र,
जान गये कैसे डाल दृष्टि मात्र
रुद्ध-वद्ध मर के निलय मे
संजीवनो विद्या है प्रकाशित अभय में !

अमर गुरु की दी हुई संजीवनी विद्या की एक कणिका भी जिन्होंने पाई है वे मुक्ति के अमर पंथ के आशावन्त यात्री बन गये हैं। ऐसे आशावन्त यात्रियों का आपने अपने प्रथम सुमधुर विन्दु में आलेखन किया है।

एक क्षण दर्शन में
धन्य हुई प्रचुर प्रतीक्षा की विकलता।
मार्गशूल फूल हुए,
कष्ट प्रतिकूल सुखमूल हुए,
सारी जनता थी शुद्ध श्रद्धा की सफलता।

बहुत दफा दिल में हुआ है, 'बापू का समीपवर्ती न हुआ होता, और प्रचंड वायु और वर्षा की झड़ी में बापू के क्षण भर दर्शन के लिए खड़ी हुई

फिर भी अड़ी ही रही ,
पृथुल प्रतीक्षा में खड़ी ही रही ,
अन्तर्वाह्य प्रेमस्नात जनता

—ऐसी कोट्यवधि जनता का मैं दर्शन कर चुका हूँ,—उस जनता का एक मात्र अगण्य अज्ञात प्राणी मैं होता तो क्या अच्छा होता ?'

उस जनता से कौन पूछता है कि 'तुमने बापू से कितना पाया ?' उसने तो जितना धन पाया उसका सदुपयोग ही कर रही है। दुर्भाग्य तो हमारा है कि हमने पाया, परन्तु पूरा अपनाया नहीं है। हमसे जगत् पूछेगा तो क्या उत्तर देंगे ?

और कविबन्धु, आप भी इस जवाबदेही से पूरे मुक्त तो नहीं हैं। आपने भी तो कुछ पाया है तो उसे जगत् को पिलाने की चेष्टा कर रहे हैं। परन्तु जगत् पूछेगा,—'पाया तो सही, अपनाया कितना है ?'

मगनवाड़ी, वर्धा
१३–९–३८

आपका
महादेव देसाई

श्रीरामः

वाणी के मन्दिर में आकर
कर्म स्वयं झंकृत है आज ;
गिरा अर्थ से, अर्थ गिरा से
सादर समलंकृत है आज ।

भूत-भविष्यत् का सुकृतिस्थल
धन्य आज का है यह लघु पल ;
यह लघु विपुल-बृहत् से उज्वल ;
सीमित भी विस्तृत है आज ;
वाणी के मन्दिर में आकर
कर्म स्वयं झंकृत है आज ।

एक राष्ट्र यह एक प्राण-मन
छिन्न-भिन्न कर सौ सौ बन्धन ,
अखिल विश्व मे एक सूत्र बन
अनायास उद्धृत है आज ;
वाणी के मन्दिर मे आकर
कर्म स्वयं झंकृत है आज ।

हृदय हृदय की गाँठ खोलकर ,
कण्ठ कण्ठ में ऐक्य घोलकर ,
पुण्य अतिथि की विजय बोलकर
हम में जय जाग्रत है आज ,
वाणी के मन्दिर में आकर
कर्म स्वयं झंकृत है आज !

मगनवाड़ी, वर्धा
चैत्र शुक्ल १३–'९२

श्रीगणेशायनमः

बापू

[१]

सुप्त नगरी के प्रान्त भाग में
उत्सुक अड़ी थी बड़ी जनता ;
सारी रात निद्रा के विराग में
जाग्रत किये थी अनुराग की गहनता ।
कौन, वह कौन कृती
कौन, वह कौन निज कार्य-व्रती

जा रहा था आज इस राह से ?
किसके निमित्त सभी मन के उछाह से
आके यहाँ थे एकत्र ,
यत्र तत्र
कुटिल-कठोर बहु मार्ग पार करके ?
श्रद्धा का पुनीत घट भर के
बाट जोहती थीं खड़ी बालाएँ ;
पुरुष लिये थे प्रेम-फुल्ल-पुष्प-मालाएँ ।

सघन त्रियामा का तृतीय याम ;
चारों ओर घोर अन्धकार का प्रसार था ;
लुप्तप्राय निखिल अरण्य-ग्राम ;
गगन-धरातल अभिन्न, एकाकार था ।
हो उठी पयोद-घटा गहरी ,
एक साथ बिज्जु-छटा छहरी ,
वायु बही सर-सर ,
काँप उठे वन्य वृक्ष थर-थर ,
सहसा अकाल वृष्टि घन-घन घहरी ।

फिर भी अड़ी ही रही ,
पृथुल प्रतीक्षा में खड़ी ही रही
अन्तर्बाह्य प्रेम-स्नात जनता ।
दृष्टि के अनन्त सौर मण्डल में ,
एक पुण्य-सूर्य इसी थल में
आविर्भूत होगा चिर काम्यधन मन का ।
निकल न जाय कहीं ,
मिलता सदैव नहीं
जीवन में ऐसा स्वर्ण-लाभ-योग जीवन का !

छूटकर काल-निशा कारा से
मेघ-जाल भेद कर प्रात-रश्मि बिखरी ;
श्यामोज्वल शान्त दीप्ति-धारा से
श्यामल धरित्री अहा ! निखरी ।
"आये, वह आये !" उठा हर्ष-रव ;
हो गये प्रफुल्ल मुख-पद्म जन जन के ;
बापू का विजय-घोष ! नव-नव
अन्तर-कपाट खुले दृष्टि के, श्रवण के ।

आई अहा ! मूर्त्ति वह हँसती ;—
जैसे एक पुण्य-रश्मि स्वर्ग से उतर के ,
अन्ध तमःपुञ्ज छिन्न करके
दीख पड़ी अन्तस के अन्तस में धँसती !
आत्ममणि का-सा पारदर्शी पात्र ,
दृष्टि हेतु गात्र उपलक्ष मात्र ,
भीतर की ज्योति से छलकता ;
रजनि-उपान्त-निभ, जिसमें झलकता
कान्त-रुचि
मंगल प्रभात काल शान्त-शुचि ।

आहा ! वह दीप्त नयनों में करुणा का भास ,
ओठों पर मुक्त हास ,
विश्व-वेदना को अवलम्ब-सा निकट में ।
सारी जनता का चिर चित्तोल्लास
आके समुपस्थित था सम्मुख प्रकट में ।
गूँज उठा जै जै कार ,

फिर फिर दूर तक आर-पार
भू पर से ऊपर गगन में ।
एक क्षण-दर्शन में
धन्य हुई प्रचुर प्रतीक्षा की विकलता ।
मार्ग-शूल फूल हुए ,
कष्ट प्रतिकूल सुख मूल हुए ,
सारी जनता थी शुद्ध श्रद्धा की सफलता !

[२]

देखकर, सहसा अरुद्धगति
मुग्धमति
जाती है बहुत दूर पार आज कल के।
मानो किसी एक ठौर चलके
स्थित हैं शताब्दियाँ अनेक एक सङ्ग में,
घोर किसी तम के प्रसंग में।
सबके वदन खिन्न;
अंग-अंग शतशः प्रहार-छिन्न;
पीड़ित हुई हैं स्वार्थ-मद से;
डूब कर आईं सभी शोणित के नद से;
हिंसा का महा पिशाच
नाचकर नंगा नाच
पी गया है बूँद-बूँद सबका शरीर-रक्त;
दर्पोन्मत्त क्रीड़ासक्त

लोभ-दस्यु लूट-पाट करके
वस्त्र-धन ले गया है हरके ।

कितने युगों की घनीभूत रात !
जानें कब होगा प्रात ?
दीखता अकाट्य ही विकट ध्वान्त ।
नूतन शताब्द-शिशु-हेतु वे सभी अशान्त ।
हो न अरे सन्तति का सर्वस्वान्त !
रात्रि बढ़ती ही प्रति पल है ।
रात्रि कट जाय तब वह भी सफल है ,—
पाकर प्रकाशमणि ।
हायरी, प्रकाशमणि !—कौन खनि
धारण किये है तुझे अन्तर में ,
पुष्टिकर उर के अजस्र दुग्ध-सर में ?

बहुत युगों के बाद, पूर्व-पुण्यस्थल की
आशा अहा ! आशा वह झलकी ।
देखो तो, सुनो तो, धैर्य धरके

किसके उदात्त उच्च स्वर से
निर्भय, अकुण्ठित, सदा-स्वतन्त्र
गूँजा कहाँ मोहन-मधुर-मन्त्र ?—
ऊर्जस्वित, सत्य के अहिंसा के अमृत से ;
मुक्त, छल-छद्म के अनृत से ।
बोला यह कोई मन्त्रदृष्टा ऋषि नूतन में ,
प्राण के पवित्र नवोद्बोधन में !
आगे गई, पीछे गई, प्रोज्वल प्रकाश-गिरा ।
भाग्य सदियों का फिरा ।
पाकर सफलता
धन्य हुई इतनी प्रतीक्षा की विकलता !

[३]

आगे की शताब्दियाँ गवाक्ष खोल,
विलग भविष्य के निकेतन में
आगे झुक विस्मितदृगी अलोल,
ध्यान निज लाकर श्रवण में,
कुछ सुनती हैं बड़ी दूर वहाँ;
कुछ गुनती हैं,—"बड़ी दूर कहाँ—
बोल रहा कौन वह जन है ?
खोल रहा अन्तर-कपाट यहाँ
कौन वह, कौन महज्जन है ?
कितना उदार स्वर इसका !
दूर यह, तो है पास किसका ?
विजयी-विमुक्त काल-बन्धन से,
उद्‌घोषित-सा है चिरन्तन से,
स्थान-पात्र भेद नहीं जिसका !

यह स्वर डूबा नहीं, डूबा नहीं,
　　　　दूरी के अनन्त सिन्धु जल में
यह स्वर ऊबा नहीं, ऊबा नहीं,
　　　　दूरी के दिगन्त मरुस्थल में;
धन्य वह कालतीर्थ कालातीत,
　　　　बोला जहाँ नारायण नर में,
'सत्यमेव जयते' अहिंस गीत
　　　　गूँजा है जहाँ से शुद्ध स्वर में।
　　नत हैं भविष्य-बधुओं के भाल,
　　प्रिय हो हमारा वही नित्य काल!"

[४]

जिसकी अलभ्य एक विन्दु सुधा
जानें किस दूर के जगत से
जाग्रत करेगी सदा प्राण-क्षुधा
प्राण में प्रलुब्ध अनागत के ,
आज वह विभु का अजस्र दान
प्राप्त है विना प्रयास हम को ;
होता नही रंच परिमाप-मान ;
वह है दिवा-विभास हम को !

[५]

ज्ञान-गरिमा-विशिष्ट,
कौन वृद्ध तुम हे तपस्वि, नित्य एकनिष्ठ ?
स्थित थे जहाँ वहीं सुसंस्थित हो।
एकासनासीन सदा,
एक ध्यान-धारणा-निलीन सदा,
नित्य अचलित हो।
झंझावात आते हैं प्रचण्ड रोष गति से,
मुक्त असंयति-से,
उच्चशीर्ष कितने महीरुहों को जड़ से
पकड़ पकड़ के
ऊपर उछाल कर धूलि खिला जाते हैं
निम्न भूमितल की,
कम्पन-विभीति तुम्हें एक भी न झलकी !

निर्बल का कौन बल धारे-से ,
तुम हो वहीं के वहीं किसके सहारे-से ?
आते हैं दुरन्त-दोल भूमिचाल ,
स्थल के तरंगोत्ताल ,
देने समहीन ताल
उच्छृङ्खल काल-नृत्य-गति में ;
मुक्त अनियति में
पीछे कहीं दौड़ दौड़ पड़ते ,
हाँप-से उखड़ते ;
खस खस पड़ते समुन्नत महीध्र शृङ्ग ,
अचला के अंक में लिपटते ;
करके प्रवाह-भङ्ग
नित्य मार्ग में से नित्यनीर नद हटते ;
उच्चहर्म्य हेमधाम
छिपते उजाड़ में नगर-ग्राम ;
चाहते अशान्त-उर विस्तृत सुनीरनिधि
कौन विधि
ओट लें सपाट मरुस्थल की ;

शान्ति तुम लेकर अथाह किसी तल की
अपनी कुटी में वहीं स्थित हो ,
हे मनस्वि, श्रद्धा में अखण्डित हो ।
दूरगत आशा-मध्य सुप्रतिष्ठ ,
कौन वृद्ध तुम हे तपस्वि, नित्य एकनिष्ठ ?

[६]

इन्धन-रहित शुद्ध अग्निज्वाल ,
नित्ययुवा तुम हे यशस्वि, सुप्रदीप्त भाल ?
एक मात्र आत्मवश ,
उज्वलित सर्वथैव एकरस ,
श्रान्ति नहीं तुमको ;
काल की अशान्ति नहीं तुमको ।
रत्नमणियों को खर्व करके
राजमुकुटों का गर्व हरके
आवर्जन आकर तुम्हारे अंक
हो रहा है दग्धपंक ;
उसमें से दीप्ति-उत्स ऊपर उछलता ,
जाग जाग उठती तरलता
पर को स्वकीय कर लेने की ,
निज को विकीर्ण कर देने की

नीचे और ऊपर दिशाओं विदिशाओं में ,
तामस निशाओं में ।
श्रेष्ठरथि, तुम हे अरुद्ध आत्मरथ के ,
यात्री हो अनन्त कालपथ के ।
नित्य के अनंग की अरुणिमा ,
आकर तुम्हारी हुई अपनी तरुणिमा !
उस परिणीता से ,
पुण्य की प्रतीति-भरी प्रीता से ,
वय की दुरन्त झकझोर-झोर
छुड़वा सकी कहाँ तुम्हारा छोर ?
प्रियता, अतन्द्र प्रेम प्रियता ,
वह है तुम्हारी क्रिया-क्रियता
अहरह सर्वकाल ।
छिन्न भिन्न करके तमिस्र जाल
तुम जिस ओर गये ,
निकल पड़े हैं वहीं मार्ग नये
दुर्गम-दुरूह में से शंका-समाधान-सम ।
उच्चतर उच्चतम ,

देख तुम्हें दृष्टियाँ थकित हैं,
विश्वजन सहसा चकित हैं।
धीर-धनी लक्ष लक्ष
लक्ष्य रूप करके तुम्हें समक्ष,
फेंक कर हेम हार,
सिर से उतार पद-मान-भार,
भूले हुए क्लेश को,
हो रहे प्रधावित तुम्हारे तीर्थ देश को।
दूर तुम, कितने सुदूर-दूर!
डाल कर प्राण तक संकट में
कितने प्रयत्न शूर
स्पर्श कर पाते नहीं तुमको निकट में,
फिर भी नहीं वे कहीं क्लान्ति क्लिन्न,
खेद-खिन्न;
मूर्तिमन्त सम्मुख ही उनके विजय है,
निश्चय है, निश्चय है।
चल जो सके हैं यहाँ इतना,
भाग्य का सुलाभ वही भूरि भूरि कितना!

[७]

विश्व-महावंश-पाल ,
धन्य, तुम धन्य हे धरा के लाल !
छद्म-छल के अबोध ,
वीतराग वीतक्रोध ,
तुम में पुरातन है नूतन में ,
नूतन चिरन्तन में ।
छोटे-से क्षितिज हे ,
वसुधा के निज हे ,
वसुधा तुम्हारे बीच स्वर्ग में समुन्नत है ,
स्वर्ग वसुधा में समागत है ,
आकर तुम्हारे नये संगम में
लघु अवतीर्ण है महत्तम में ,
दूर और पास आस-पास खिले ,
एक दूसरे से हिले ;

भीतर में बाहर में ,
हास और रोदन ध्वनित एक स्वर में ।
जानें किस भाषा में ,
ज्ञात किसे, जानें किस आशा में ,
हास में तुम्हारे विश्व हँसता ;
रोदन में आकर निवसता
विश्व-वेदना का महा पारावार ,
घोर-घन हाहाकार ;
छोटा-सा तुम्हारा यह वर्त्तमान
विपुल भविष्य में प्रवर्द्धमान ;
आज के अपत्य तुम, कल के जनक हो ,
एक के अनेक में गणक हो ;
सब के सहज साध्य ,
सब के सदा अबाध्य ,
आत्मलीन सर्वकाल सर्वात्मीय ;
कौन तव परकीय ?
तुम अपने हो विश्व भर के
पुण्यातिथि भी सदैव घर के ;

हे विदेह,
गेही भी सदैव तुम हो अगेह;
फेक सकते हो तुम्हीं निर्विकार,
मृत्तिका-समान हेम-हीर-मणि-मुक्ता-हार;
सन्तत अतुल हे,
जन्मजात उच्च स्वर्गकुल के,
मर्त्य-कुलशाखा में हुए हो गोद
सप्रमोद;
भूतल की शुक्ति यह हलकी
एक बड़ी बूँद किसी पुण्य-स्वाति जल की
दुर्लभ सुयोग जन्य
प्राप्त कर तुममें हुई है धन्य धन्य धन्य!

बाल तुम?—बाल-युवा-वृद्ध नहीं कुछ भी,
पूर्ण विश्व-मानव तभी, तभी;
प्यार-प्रेम-श्रद्धा सह
वार वार प्रणत प्रणाम तुम्हें अहरह!

[८]

आह ! वह कारागार
क्रूराकार ।
जैसे किसी निर्मम हृदय की
कठिन शिलाओं के समुच्चय-सी
विपुल बड़ी बड़ी
निर्मित हैं भित्तियाँ कठोर कड़ी
चारों ओर ;
भय का अवाक रोर
घोर घनीभूत हुआ उनमें जड़ित है ,
एक साथ स्तम्भित है !
एक मुखद्वार वह उनमें विकटकाय ,
जाने भर का उपाय ,
वश्य उसमें से नहीं बाहर निकलना ;
कैसी बड़ी छलना !

एकाएक अपने अतल से
जानें किस बल से ,
उछल पड़ा है, इस घेरे में दुरन्त रूप ,
तृष्णातुर कोई बड़ा अन्धकूप !
उद्यत है, जैसे यह लेगा लील
दीन-हीन मानव का सत्य-शील ।

जन जन शंकित था ,
भीति-भयातंकित था ,—
यह है कराल कालनगरी मुक्तिपथ में ,
अन्त लिये अथ में ।
प्राचीरें यहाँ की बेड़ियाँ हैं सर्व तन की ,
सीमा नहीं बन्धन की ।
आकर अड़ेगा कौन इससे ?
वैर मोल लेकर लड़ेगा कौन इससे ?
हट कर जाते थे प्रबुद्ध शूर
दूर दूर
दूसरे ही मग से

सन्तत सजग-से ;
जानते थे, यह है कपट-खोह
बाहर-विहीन ओह !
भीतर ही भीतर है इसके ;
अन्ध कालकक्ष मध्य जिसके
वन्दी है असीमाकाश ,
वायु मृतप्राय चिर रुद्धश्वास ।

थे सुदूर तुम हे उदार धुनी ,
तुमने पुकार सुनी ,—
वन्दिनी स्वतन्त्रता है क्रूरमुखी कारा में ;
नित्य गतिशीला प्राणधारा में
आकर अड़ी है जलशून्य मरुस्थलता ;
सत्य की तरलता
शुष्क धरित्री में अवलुण्ठित है ,
शृङ्खलित कण्ठगत कुण्ठित है ।
तोड़ सब तुच्छ स्वार्थ ,
हे सिद्धार्थ ,

छोड़ तुम नेह-गेह-धन को ,
छूट पड़े नूतन महाभिनिष्क्रमण को ।
बन्धु-वर्ग भीत हुए भय से ;
हँस उठे संशयालु संशय से ;
द्वेषदग्ध होकर अजान में स्वजन-से
मंगल मनाने चले मन से ।
करके न दृष्टिपात ,
सहज प्रसन्न गात ,
दीखे तुम आगे ज्योति-पुञ्ज ज्यों तिमिर में ;
पथ की अजस्र चल-फिर में
सीधे ही दिखाई दिये छूटे हुए शर-से ,
दीप्त सूर्य-कर-से ।

दौड़ गईं दृष्टियाँ सकल की ,
झोपड़ी से लेकर महल की ,
बन्धन की ओर अरे ,
जा रहा है मुक्तिपथी वेग भरे !
बन्धन वहाँ का प्रहरण है ,

जीवन कठिन क्रूर मृत्यु की शरण है,
वाणी वहाँ है अलीक,
वह है अनीति-दुर्ग, दुर्दमन का प्रतीक।

राजवन्दि, तुम हे सदा अपंक,
भीति का कठोरातंक
टूट गया स्पर्श से तुम्हारे एक पल में।
कोलाहल-क्षुब्ध किसी स्थल में
पहुँची अचानक ही स्वर्ग की मधुर तान
करके सुत्रप्रदान;
बन्धन में आलय की दीपक शिखा-समान
दीखे तुम और भी प्रकाशमान;
पीड़ना तपस्या हुई तुमको,
शुक्ल-रत्न-गर्भा अमावस्या हुई तुमको;
बन्धन में कण्ठरोध
हो गया तुम्हारे लिए सत्यशोध;
लाञ्छन-दमन आत्मसाधक है,
निर्जन तिमिर-कक्ष शान्ति-समाराधक है

शान्त तपोवन-सा ;
पर में प्रकट है स्वजन-सा !
विस्मय है, तुम हे अमर छात्र ,
जान गये कैसे डाल दृष्टि मात्र
रुद्ध-वद्ध मर के निलय में
संजीवनी विद्या है प्रकाशित अभय में !

घृण्य वह कारागार ?
वह तो अबन्धन का मुक्ति द्वार !
अंकुरित होकर वहाँ अखेद
मुक्ति-बीज क्रूर भित्ति-भूमि भेद
फूट पड़ा बाहर है ,
लाली लिये ले रहा लहर है
मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्य-केतु !
जा रहे वहाँ की तीर्थयात्रा हेतु
लक्ष लक्ष नारी-नर
मंगलेच्छा सर्व-सुखकारी कर ,
धरके तुम्हारे वे चरणचिन्ह ।

भीति-भय छिन्न भिन्न !
साग्रह प्रवेश की चलाचल है ,
द्वार वह दीखता खुला-सा अनर्गल है !
कारागृह ? कुछ क्यों न हो अतीत ,
तुमने जगा दिया महा पुनीत
साधु-सा कुजन में ।
आज मन-मन में
सबको सहजगम्य
देवगृह है वह सदा प्रणम्य ।

[९]

दीख पड़ता है, सब संकट बिसार कर
मानव है नाश के कगार पर,
चूर हो रहा है ध्वंस-मद में,
डूबने को हो रहा है घृण्य रक्त-नद में;
जागी उसमें है पाशविकता
क्रूरता, वधिकता;
देखता नहीं है कुछ वृद्ध-बाल,
सबके लिए है काल;
दस्यु सम घात में खड़ा है प्राण-धन को,
लज्जा नहीं आत्मा के हनन की।
भीतर में लोभवृक उसके प्रबल है
लोलजिह्व दीप्तक्षुधानल है;
चाट नररक्त की है उसको,
लोह-दन्त-चक्र में पुरुष को

पीसता है, पीसता ही जा रहा है बार बार
कठिन कृतान्ताकार ;
उसको करालमुखी तृष्णा का नहीं है पार ,
विषम दुरन्त शापजन्या-सी
होकर अदम्य अग्निवन्या-सी
दुर्विलंघ्य दुर्निवार
फैल रही, फैलती ही जाती है ,
तृप्ति नहीं पाती है
निगल समूचे के समूचे देश ;
हाय, अरे कैसा क्लेश ?
जाती है समुद्र ग्रास करने को स्थल से ,
और फिर छिप के अतल से
बढ़ती है ऊपर अनन्त शून्यपथ में ,
आरूढ़ा महा विनाश-रथ में
बरसा रही है प्रज्वलन्ताङ्गार ;
कैसा घोर हाहाकार !
पीड़ितों के क्रन्दन का पारावार
क्षुब्ध है धरा की मर्म-वेला में ,

पुण्य की जघन्य अवहेला में
दुःख के तरंग हैं उमड़ते ,
दीर्घोच्छ्वास हो होकर फूट फूट पड़ते ।
अन्त कहाँ, अन्त कहाँ इसका ?
कौन आज किसका ?

[१०]

देखकर मानव के नीच कृत्य
उच्छृंखल नग्न-नृत्य
भीतर की श्रद्धा सभी लुटती ,
घोर घृणा—घोर घृणा जाग जाग उठती
मानव के ऊपर हृदय में ।
ऐसे दुस्समय में
तुम हे निखिलबन्धु, करते हो शान्तिपाठ ;
प्रेम का अचल ठाठ
एकरस दीखता तुम्हारी पुण्य वीणा में
शुद्धस्वर-लीना में ।
पूर्ण आत्म-प्रत्यय है तुमको ,
आशा के सुकोमल कुसुम को
मानस में होने नहीं देते म्लान ,
जीवन का करके स्वरस दान ।

जान लिया तुमने विशुद्धान्तःकरण से—
सत्ताधारियों के प्रहरण से
नाश नहीं जीवन का
वीज उसमें है चिरन्तन का ;
जान लिया तुमने गभीर स्वानुभव से—
हिंसा के उपद्रव से
सम्भव विनाश नहीं नर का ,
अमृत पिये है वह, आत्मज अमर का ;
देख लिया तुमने सुदूर दृष्टि-बल से—
वैर के अनल से
दग्ध नहीं होगी धरा ,
अंचल है उसका सदैव हरा ,
उसने युगान्त युग कल्प के भ्रमण में
लीन रह एक लक्ष्य-साधन में
अपने ज्वलन्त तनुपिण्ड के ज्वलन को
दाहक दहन को
शीतल-तपस्या से किया है शान्त ,
आज तभी रूप यह उसका अमल कान्त !

आज तभी ऐसी यह नित्य नई,
इतनी सजीव चिर प्राणमयी;
कितने न जानें क्रूर अग्न्युत्पात
कितने न जानें भूमिकम्प के कठोराघात
लीन कर निज में
वह है प्रफुल्ल शस्य-श्याम-सरसिज में !
तुम कहते हो तभी—प्रेम करो, प्रेम, प्रेम !
प्रेम है स्वयं ही क्षेम,
प्रेम की ही अन्त में विजय है
प्रेमरत्न नित्य ज्योतिर्मय है;
फैला दो उसीका मृदु दीप्ति-हास,
हिंसा के तमिस्र का स्वयं हो ह्रास !

[११]

प्राणवन्त, वेगवन्त, सुप्रसूत
उच्च-महदुच्च के अतल से ;
लेकर लघुत्व में महत् प्रभूत
ऊपर उठा है स्वात्म-बल से ;
क्षिति के गभीर गूढ़ अन्तस का
सहज विशुद्ध निष्कपट भाव ;
कर्कश-कठोर मे सुरस का
तरल सलील शुचि प्रादुर्भाव ;
राशि राशि पुण्य-वितरण का
बन्धन-विमुक्त स्वच्छ हर्ष लिये ,
व्यापक अनन्त के चरण का
अमिट अटूट सुखस्पर्श किये ,
देवार्पित पुष्पनिभ नव्य वह
छूट पड़ा भरने धरा की गोद ,

कठिन-कठोर तपोलभ्य वह
काल के भगीरथ का काम्यमोद !
दूर के निमन्त्रण में धावित है,
सोच हो उसे क्या स्वल्प सम्बल का ?
प्राण के प्रभाव से प्रभावित है,
गति में प्रवाह-छन्द जल का।
पर में अजस्र आत्म-सङ्गम का
लाभ उसे, नित्य वह ओत-प्रोत ;
गंगा के पुनीत पयोद्गम का
क्या वह सुपावन अनादिस्रोत ?

[१२]

दूरगत प्रिय का, स्वजन का
पत्र एक लघु-सी लिखन में
क्षेम भर लाता है मिलन का ;
सहसा समस्त प्राण-मन में
हर्ष का प्रवाह है उमड़ता ,
दूरी में समीप जान पड़ता :

देवता स्वकीय रूप रूपातीत
एक किसी लघु-से उपल में
करता प्रकाशित प्रसन्न प्रीत ;
नित्य महाकाल उसी पल में
बोल उठता है भक्त के समक्ष ,
अप्रकट होता वहीं सुप्रत्यक्ष :

होती है समष्टि जब मोहाच्छन्न
रुद्ध बद्ध चेतन विहीन रूढ़ ,
ज्ञान तभी होके मुक्ति भावापन्न
व्यष्टि-वर्तिका में स्वरहस्य गूढ़
भरता प्रकाश-सा अमित है ;
आहा ! युग-कक्ष समुद्दीपित है !

[१३]

मानव अरण्य-पथचारी था ,
ऐसा प्राणधारी था
जन्तुओं में मानों एक जन्तु अन्य ,
निर्मम अदम्य वन्य ;
क्रूरता थी उसकी बुभुक्षा के निवारण में ,
हर्षामोद मारण में ,
मन से निजत्वपर दुर्धर था ,
देह से दिगम्बर था ।
एक दिन देखा गया
दीखता है सर्वथैव वह नया ;—
उसमें उदित है नया संस्कार ,
उसके गले में गुण-सूत्र-हार
धारण किये है यशःशोभिनी धवलता ,
मानस में संयत अमलता ।

सूत्र के मनोज्ञ मृदु बन्धन से
वह है द्विजन्मा प्राण-मन से !
जीवन में आया नया अर्थ निष्कलुष का ;
अन्न-वस्त्र उसका
एक दूसरे के सहयोग से प्रयत है ,
संस्कृत सुसभ्य वह ज्ञान-कर्म-रत है !

हाय, आज फिर से भयंकरता !
बर्बरता
करके कठोर उरस्थल को
ग्रसने चली है दीन-दुर्बल को ।
दारुण विकृति है ,
संस्कृति के वेश में जघन्य असंस्कृति है ।
बुद्धि-बल का प्रताप
हाय ! आज हो गया है विश्व का महाभिशाप !
लालसा के घोर घनाडम्बर में
नग्नता ही नग्नता है नर में ।

धन्य भाग्य !—प्रभु की दया से हे दया के दूत ,
ऐसे में हुए हो तुम प्रादुर्भूत
लज्जा के निवारण-से ,
डूबते हुए में समुत्तारण-से !
हाथ में तुम्हारे प्रेम-मन्त्र-पूत
शोभित अमल सूत
देखकर नूतन अभय में
आशा बँधी विश्व के हृदय में ।
लोकगुरु, लोक का अछूतपन पुंजीभूत
दूर हो, पवित्रता हो सुप्रभूत ,
जीवन सुचिर हो ,
मानव का तुम से द्विजन्म आज फिर हो !

[१४]

जब तब जान पड़ता है अरे
तुम हो अकाल मेघ नीर-भरे
पौष के अनुज्वल गगन में !
सहसा तुम्हारे धीर गर्जन में
जाग उठती है भीति ;
शीत के असह्य प्रकम्पन में
दर्शन की सहज प्रसन्न प्रीति
आती नहीं मन में ;
करती नहीं है मग्न आर-पार
चाह की सुरस-धार ,
उठती नहीं है रंच कण्ठ में मलार-गीति ;
अन्य किसी शस्य श्याम सावन की ,
मंजु मन-भावन की
भूल भूल जाती है सभी प्रतीति ।

सोचते हैं, प्राण जब हिम में ठिठुरते ,—
कैसे तुम निर्मम निठुर-से !
स्वागत विहीन तुम लौटते नहीं तथापि ,
क्षान्त हुए दीखते नहीं कदापि ;
अविरल वारि बरसाते हो स्वयंसुस्फूर्त ,
देखकर जानें कौन-सा मुहूर्त ।

फिर जब देखते, चतुर्दिक विभास है ,
मुक्त महाकाश है
स्वच्छ, शुचि, सुन्दर, रजोविहीन
रंग-रुचि में नवीन ।
होता समुद्बोधन तुरन्त एक क्षण में ।
पट के प्रसह्य परिवर्तन में
दीख पड़ता है, दूर हो गया है अन्धकार ;
लेकर प्रसून-हार
चारों ओर खेत हैं हमारे हरे ,
मंजु मधु-श्री से भरे
लहरा रहे हैं खुले रंगों में ,

पुलक लिये हैं नई जीवन-तरंगों में ।
जाना अहा ! जाना तब ,
मान लिया, आहा ! मनमाना अब ,
कष्ट वह था न व्यर्थ ;
वैसे में तवागम का स्पष्ट अर्थ
आज के उछाह में लिखित है ;
अप्रिय कठोरता में प्रियता निहित है
इतनी उदारा यह !
दुस्समय की-सी नीर-धारा वह
नीरस में लाकर सरस को
अमृत पिला गई है आज के दिवस को !

[१५]

विश्व भर की-सी हीनता की मूर्ति
एक वह दुर्बल था,
तनु में अतेज, असम्बल था,
मन में नहीं थी कहीं कोई स्फूर्ति;
धन में दरिद्रता जनित ग्लानि,
जीवन में चारों ओर उसके तमिस्र-म्लानि
निष्प्रभ किये थी तिरस्कृत-सा।
सहसा तुम्हारे सत्य-प्रेम का अमृत-सा
श्रवण-पुटों में चुआ।
अंकुरित शुष्क बीज में से हुआ
अद्भुत अपूर्व तेजवन्त प्राण,
मित में अपरिमाण!
दूर हुई एक संग जड़ता,
ढीली पड़ी बन्धन की कर्कश निगड़ता।

सारी प्रतिकूल परिस्थिति में ,
जागी धृति सुस्मृति समान किसी विस्मृति में ।

था जो अभी सबका उपेक्षा पात्र
अस्ति जिसकी थी अनस्तित्व मात्र
उत्थित वही था सिर ऊँचा किये नभ में ,
अन्य-सा सुदूर तक सब में ।
कितना नवेलापन !
भूला वह अपना अकेलापन ,
प्रेम की पताका लिये कर में
निर्भय निरस्त्र बढ़ा सत्य के समर में ।

विस्तृत अबाध निज सत्ता में
कठिन पशुत्व प्रतिपक्षी था ;
निर्मम मदान्ध शक्तिमत्ता में
जाग्रत क्षुधा में एकलक्षी था ।
चारों ओर में समक्ष
एक—बस, एकसंख्य नर के

संख्यातीत लक्ष लक्ष
वैरवाहिनी के चतुरंग घटाडम्बर थे ।
सब थे अवाक एक पल को
आता देख निर्भय अशंक अविचल को
विरज समीर की लहर-सा !
वह तो अरुद्ध, उसे डर क्या ?
उसने तुम्हारी अविरोध सुधा चख ली ,
जीवन की एक मूर्ति लख ली
एक-सी जयाजय में ,
संकट-असंकट, भयाभय में !

कातरता करने लगी पुकार—
लौट, अरे लौट, वहाँ नाश का महा प्रसार !
देख, अरे देख, उस मग में
एक एक पग में
दुर्दम विभीषिकाएँ क्रूर मुख खोले हैं ;
क्रुद्ध खड्ग मृत्यु-विष घोले हैं
तीक्ष्णतर धारों में ;

अक्षरित तब भी अदर्शन में।

गूँजा स्वर तत्क्षण विना विलम्ब—
"धीरज न खोओ अम्ब, धीरज न खोओ अम्ब !"
और कोई माता का नवीन लाल
भारी भीड़ में से निज को निकाल
धावित था माता के चरणचिह्न धर के,
गति में दुरन्त वेग भर के।

विस्मित विमुग्ध रह
चीन्ह नहीं पाये सब, कौन वह ?
कौन था, कहाँ था छिपा ?
कौन-से अँधेरे में लिये था यह ऐसी विभा ?
आया वह पीछे से अचानक ही,
देख सके उसकी झलक ही ;
दीख गया तब भी न जानें कुछ कितना,
देख सकते क्या कभी इतना
एक साथ जन्मावधि संगी रह ?

वेदना की कैसी सुप्रशान्त भाव-भंगी वह !
दृष्टि में विभेदन था कैसा क्या ,
देखती हो, दृश्य के अदृश्य पार जैसा क्या ।
देह में थी एक मात्र गति ही ,
चेतन विशुद्ध महा मति ही ;
आत्मा का स्वयं प्रकाश ,
जिसमें नहीं था कहीं ऊपर का रूपाभास !

"भीत न हो, भीत न हो डर से"
उसका पुनीताह्वान आ रहा है भीतर से—
"धाम यह विस्तृत है धूममय ,
भीतर नहीं है अभी वैसा भय ;
छिन्न कर भीति-जाल
आओ हो, निकाल लें कहाँ है वह माँ का लाल !"

धाम अब भी है वह धाँय धाँय ,
धूम का गुँगाटा भरे भाँय भाँय ;

सन्न निरुपाय खड़े देख रहे जन हैं,
भय से विषण्ण मन दाह-दग्ध तन है!
सब की पुकार है यही हे राम!
अक्षत ही लौटे वह होकर सफल काम।

[७०]

होता है, तुम्हारे यज्ञकुण्ड के हुताशन में,
सतत प्रकाशन में
जागरित दीपित अखण्ड ज्वाल।
एक जप, एक तप, एक व्रत, सर्वकाल।
वासर के दुःख-सुख सायं-प्रात,
मास के अकृष्ण-कृष्ण ज्ञाताज्ञात,
वर्ष के वसन्त ग्रीष्म,
मंजु-मृदु-कोमल, कठिन-भीष्म,
आहुत हैं, आहुत हैं श्रान्तिहीन श्रम से,
तिल-तिल एक उसी क्रम से।
तापस, तुम्हारे मन्त्र-पूत तपोवन में,
पुण्य-निकेतन में,
आमोदित होम-धूम हो रहा तिमिर-जाल;
सुप्त सर्व-भूत-निशा

हो रही है जागृति की पूर्व दिशा
अरुण-प्रदीप-दीप्ति ढाल ढाल ;
पालित समाश्वसित हैं कुरंग ,
लालित स्वकीय के समान व्योम के विहंग ,
काम-क्रोध-लोभ-युता
वैर की दुरन्त हिंस्र पशुता
दीक्षित हुई है यहाँ प्रेम-मन्त्र दीक्षा में ,
प्रयत अहिंसा की परीक्षा में ।
सर्व फल-काम के विसर्जन में
अधन, अनर्जन में
त्यागी हे, तुम्हारा त्याग
विश्व का अखण्डित विभव-भाग ।
देखकर भीति से नृपासन विकम्पित हैं ,
काञ्चन-किरीट पद-पद्मों में नमित हैं ।
आत्मजयि, पावन तुम्हारे आत्मशासन में ,
पाप-ताप-नाशन में
क्षत्रियत्व दुर्निवार शौर्य-समन्वित है ,
अस्त्र-शस्त्र हीन भी अचिन्तित, अजित है ।

अचल प्रतिष्ठ हे, तुम्हारे पुण्य-सागर में,
ज्ञान-गुणागर में,
शान्ति के समस्त प्रभ्रमित स्रोत
आकर हैं पूर्यमाण, पूर्णकाम, ओतप्रोत।
विरज विरागी हे, तुम्हारे मनोघन में,
चेतन-अचेतन में
पूर्ण प्रेम मंगल का है विधान;
उर्वर-अनुर्वर सभी के लिये मुक्त दान;
निज के निमित्त ही सदा सजाग
रक्षित वहाँ है तीव्र विद्युत शिखा की आग;
जीवन के पावस में
मग्न यह कैसे किस रस में
खेल रही, खेल रही मृत्यु की दुरन्त फाग!
जीवन विमुक्त हे, तुम्हारे मर्त्य स्वर में,
काल के अनन्त समादर में,
साधित कहाँ से यह स्वर्ग का अमर राग?
आरोहावरोह में समानोदार
सत्य का विशुद्धोच्चार।

पुण्य स्पर्शरत्न हे, तुम्हारे समाकर्षण में
शान्त कर जीवन का द्वन्द्व-द्रोह,
एक लघु स्पर्शन में
काञ्चन ही काञ्चन है मृत्यु का कठिन लोह।
आत्मधन, तुम हे महा-महान,
उच्च भाल नरता का सादर प्रणति-दान!

[२१]

तेरे तीर्थ-सलिल से प्रभु हे !
मेरी गगरी भरी-भरी ,
कल-कल्लोलित धारा पाकर
तट पर ही यह तरी-तरी ।
तेरे क्षीरोदधि का पद-तल ,
जहाँ शान्ति-लक्ष्मी है अविचल
फुल्लित-फलित जहाँ मुक्ता-फल ,
नहीं ला सकी पहुँच वहाँ की
पुण्य-सुधा कल्याण-करी ,
तेरे तीर्थ-सलिल से प्रभु हे !
मेरी गगरी भरी-भरी !

घोर घनीभूत अन्धकारों में
तड़क रही हैं वे विनाश की बिजलियाँ ;
तेरे क्षुद्र दीप की प्रभावलियाँ
बुझने चली हैं कहाँ काल के प्रभञ्जन में !
लौट आ अरे, तू सोच मन में ।

लौटा नहीं, लौटा नहीं हाय-हाय ,
आग्रही अकम्पकाय ।
उधर पशुत्व का कराल कोप फूट पड़ा ,
बाँध तुल्य टूट पड़ा
एक साथ ज्वालामुखी गति में ;
अत्याचार, यातना की अति में
कम्पित अनन्त में दिशाएँ हुईं चारों ओर ,
गूँज उठा हाहाकार आर्ति-रोर ,
तो भी, अरे तो भी वहाँ एक वह निश्चल था
पूर्व-सा अकम्पित, अटल था
निर्विशङ्क, निर्विरोध
पाकर दृढ़ाग्रह में सत्य-शोध !

मधुर सुहास था वदन में।
मानो बड़ी दूर तक फैले किसी वन में
जाग उठा दारुण दवानल था,
प्रखर प्रसह्य चल-चंचल था,
उसमें खिला हो कहीं मात्र एक फुल्ल फूल
वर्द्धित, समागत विपत्ति भूल !

देर लगती क्या, कालधूममुखी ज्वालाएँ
होकर लयंकरी करालाएँ
आगई समीप वज्र वेग भरीं,
जानें किस क्रूरता के हर्ष-मध्य हहरीं !
आगे बढ़, पीछे हट, खेल खेल,
हिंसा का प्रमत्त भार झेल झेल
निगल गईं वे उसे हन्त, एक छिन में;
अन्त हाय, अन्त एक छिन में !

कवि रे, अरे, क्यों आज तेरे नेत्र गीले ये,
तेरे स्वर-तार सभी ढीले ये ?

कैसी किस वेदना-व्यथा से है व्यथित तू ?
उर में अशान्त उन्मथित तू ?
वायु का प्रवाह रुका तेरे धरातल में
ज्योति म्लान-सी है नभस्थल में
देख यह ऐसा अन्त !
अन्त ! अरे कौन कहाँ कैसा अन्त ?
श्रीगणेश यह है नवीन के सृजन का ,
आद्यक्षर नव्य भव्य जीवन का ,--
जिसके निमित्त सब धीर-धनी भिक्षुक हैं ,
निखिल तपस्विजन इच्छुक हैं ,
जिसकी शुभाशा लिये मन में
कितने प्रवीर परिश्रान्त हैं श्रमण में ,
नश्वरता जिसमें हुई है अविनश्वरता ,
मृत्यु में हिली-मिली अमरता ।
हार कहाँ, उसमें कहाँ है हार ?—
अन्त के दिगन्त तक उसका महा प्रसार ।
आज के ही आज में उसे न देख ,
उसका विजय-लेख

काल का तरंगोत्ताल-माला में लिखित है
अगम अनन्त में ध्वनित है ।
देह वह दुर्बल—उसीका लोभ ?—
उसके विना ही तो पशुत्व का कराल क्षोभ
इन्धन विहीन हतप्रभ है ,
व्यग्र उसकी ही पुनःप्राप्ति हेतु अब है !

उठ रे, अरे ओ गान !
धन्य वह कालजयी कीर्तिमान ,—
कठिन कसौटी पर जिसका सुहेम-चिन्ह !
जिसने किया है महातंक छिन्न
विश्व के प्रपीड़ितों के अन्तर से ;
बोध का प्रदीप दीप्त करके
जिसने दिखाया—दीन दुर्बल नहीं है हीन ,
वह है निरस्त्र भी महत्वासीन
अपने अजेय आत्म-बल से ;
अन्य के अपार शक्ति-छल से
मुक्त सर्वथैव वह एक मात्र स्वेच्छाधीन ।

देख अरे, वह है नहीं विलीन ;
होकर स्वकीय जन जन का
आज वह हो गया भुवन का ;
गुंजित है मंगल की भाषा में ,
निश्चित द्विधाविहीन जागरित आशा में ।
उठ रे, अरे ओ गान !
प्राप्त कर उसका अखण्ड दान !

कौन, अरे कौन वह त्याग-धाम !
नाम उसका क्या नाम ?
नाम कब पूछा गया जीवनद-माला का !
उसकी उदार दानशाला का
सतत खुला है अविश्रान्त सत्र ,
अन्तरिक्ष में निलीन
नाम-धाम-गोत्र-हीन
ऐसा वह पूत-पत्र
जिसने नवीन इतिहास के प्रकाश-हित
निज को किया है स्वयं पुण्यार्पित ।

उठ रे, अरे ओ गान !
धन्य, वह् कालजयी कीर्तिमान ;
भीति-भय से स्वतन्त्र
जिसने जपा है गुरुदत्त महत् प्राण-मन्त्र
करके स्वकीय दान !
उठ रे, अरे ओ गान !

[१६]

एक वही एक बात !
एक,—वही एक नित्य का प्रभात
मुक्त महोल्लास लिये
नन्दित अनन्त में विभास किये
करता धरित्री को उजागर है ;
एक,—वही एक चिरकालिक प्रभाकर है
नित्य का सुहास लिये
तप में तमिस्रहर जीवन विकास किये ;
एक,—वही एक चिरकालिक उदधि है ,
नित्य निरवधि है
उसका गभीर घोष ,
एक वही उसका प्रदान-कोष ;
एक,—वही एक जगत्प्राण शुचि गन्धवाह ,
उसका प्रमोदित महा प्रवाह

एकरस नित्य तृप्तिकर है ;
एकरस सत्यसन्ध साधक का स्वर है ,
धन में अ-धन में
जीवन-मरण में
दु:ख-सुख-मध्य दिन और रात
एक,—वही एक छन्द एक बात !

[१७]

देश-काल मेरे अरे ,
तेरा ही अकेला नहीं आज का अपूर्व आज ;
निज में न जानें क्या कहाँ का भरे
दूर तक फैला पड़ा इसका विमुक्ति-राज !

प्राप्त इसे दूर के अतल से
सत्य-हरिश्चन्द्र की अटलता ;
लब्ध इसे तारा-ग्रह-मण्डल से
श्री प्रह्लाद की अनन्त-भक्ति-समुज्वलता ;
क्रुद्ध कुरुक्षेत्र के समर में
साधा है अकाम ज्ञान-कर्म योग इसने ,
पुण्यदत्त पाञ्चजन्य-स्वर में
जीवन का पाया है अमर-भोग इसने ;

भीष्म की अनूठी ब्रह्मचरता ,
प्राप्त इसे, स्वेच्छा मृत्युवरता ;
बुद्ध से मिला है परमार्थ-भाग ,
ईसा से नरानुराग ,
हिंसा-त्याग धीर महावीर-से वरद से ,
दृढ़ता मुहम्मद से ;
धौत तुलसी के मानसर से ,
लाया है पराई पीर नरसी के घर से ;
टाल्सटाय से अधीत
प्रेम-प्रतिरोध का समर-गीत ।
शास्वत गिरा ने दिया राम-नाम ,—
अपना विराम-धाम ।
तिल-तिल संग्रह से कोष-भरे
कितने युगों ने किया इसका अमल-साज ;
देश-काल मेरे अरे ,
तेरा ही नहीं है यह आज का पुनीत आज !

[१८]

देश, अरे मेरे देश ,
तेरी उच्चता में दृढ़ है नगेश ;
अतल गभीरता में सागर है ;
मन की पवित्रता में गंगा की लहर है ;
देखने में ज्योतिष्कान्त मणियाँ ;
ओझल में भूरि भूरि खनियाँ ;
सुगम कहीं पर, कहीं दुरूह ;
खेत यहाँ मंजु वहाँ दुर्गम वनों के व्यूह ;
सर्व-समापन्न मनभावन तू
देश, अरे मेरे देश ;
गौरव-धनी है पुरातन तू
मेरे अरे चिरनिवेश !

तो भी अरे आज के भुवन में
सीमाबद्ध होकर समुद्र-महाचल से
कब लौं रहेगा तू विजन में
टूट कर एक खण्ड विपुल धरातल से ?

तेरे धरा धाम-मध्य निर्मलिन
आज का नवीन दिन
लाया है प्रफुल्लित प्रकाश-गिरा !
करके निजस्व निरा
रख क्या सकेगा इसे रुद्ध किसी घेरे में ,—
सीमा के अँधेरे में ?
यह है धरित्री में गगन-जात ,
जागृति का माङ्गलिक सुप्रभात !
प्रचुर प्रसारमान
इसका उदार दान
सबको दिये है प्रेम
सबका लिये है क्षेम ;

संकुचित बन्धन का
इसमें नहीं है लेश ;
फैलकर होने इसको दे तू भुवन का
होकर स्वयं अशेष ;
देश, अरे मेरे देश !

[१९]

धधक उठी है अरे, धधक उठी है आग !
एक साथ सुप्ति त्याग
प्रखर, प्रतीक्ष्ण क्षण क्षण में
क्षुब्ध हो रही है समुच्चालित समीरण में ।
धाम वह धाँय-धाँय ,
धूम का गुँगाटा भरे भाँय-भाँय !
सन्न निरुपाय खड़े देख रहे जन हैं ;
भय से विषण्ण मन, दाह-दग्ध तन हैं ।

कैसी कुपिताएँ ये
अनल शिखाएँ, क्षुधिताएँ ये
मिट्टी-ईंट-चूना तक चाटने को टूट पड़ीं ,

क्रूर रसनाएँ ये विलोल-लोल एक संग
चारों ओर छूट पड़ीं
खेलने को ऐसा यह रक्त-रंग !
ज्ञात किसे, भीतर की लूटपाट कितनी ,
जिसके लिए ही यहाँ इतनी
दुस्सह छटा संयुक्त
कालधूम-कोषमुक्त
दूर, बड़ी दूर लौं छहरतीं ,
भूरिसंख्य वह्नि की दुधाराएँ लहरतीं !

चीर कर अन्तर-सा
प्रज्वलन्त ज्वाला की घहर का ,
सहसा सुनाई पड़ा माता का व्यथित रोर ,
कोमल में तीव्र घोर ,—
"भीतर कहीं है अरे मेरा लाल, मेरा लाल !"
सब अवसन्न-से निमेष काल !
"मेरा लाल !"-व्योम में ध्वनित था ,
"मेरा लाल, मेरा लाल !" वायु में स्वनित था ,

सब के उरों में वही—"मेरा लाल !"
सबके सुरों में वही—"मेरा लाल, मेरा लाल !"

माता ! यह माता विश्वमाता है !
इसके हृदय बीच उमड़ा-सा आता है
दुःख-शोक-ताप विश्व भर का ।
इसका प्रदाह कहीं भीतर के स्तर का
दीख सके मात्र एक क्षण को
म्लान, हततेज इस गेह का दहन हो !
दृष्टि में करालोन्माद ,
भाल पर भासित महा विषाद ,
वेणी बन्ध मुक्त पड़ा झुलसा ,
वस्त्र किसी भाँति तनु-मध्य कहीं उलझा ;
दृष्टियाँ झँपाती हुई ,
सारा वायुमण्डल कँपाती हुई ,
दीख पड़ी विद्युत की एक ही चमक-सी ,
प्रज्वलन-राग की गमक-सी ,
क्षण में अदृश्य हुई ज्वालित सदन में ।

पाया, पा सकती थी जितना :
अधिक और भरती यह कितना ?
कम क्या, कम क्या, कम क्या इतना ?
गहरी नहीं जा सकी तब भी
तृप्ति-पिपासा हरी-हरी ;
तेरे तीर्थ-सलिल से प्रभु हे !
मेरी गगरी भरी-भरी !

दिवाली से बसन्तपञ्चमी
चिरगाँव १९९४